

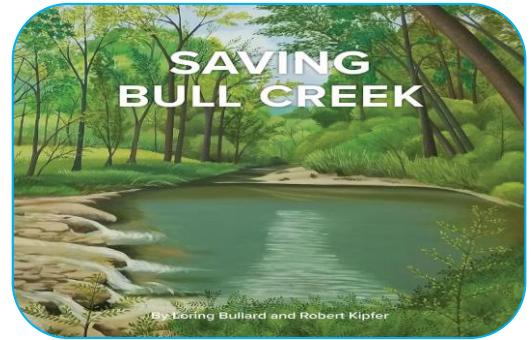


विकास, विस्थापन और पर्यावरणीय न्याय: समकालीन हिंदी साहित्य का पारिस्थितिक पुनर्पाठ

Dr. A. V. Nandaniya
Associate Professor,
Shri V. M. Mehta Muni. Arts & Commerce College, Jamnagar.

प्रस्तावना

आधुनिक सभ्यता के विकास की कहानी सामान्यतः प्रगति, आर्थिक समृद्धि, तकनीकी उन्नति और बेहतर जीवन-स्तर की कहानी के रूप में प्रस्तुत की जाती है। सड़कें, बाँध, उद्योग, खनन, बड़े नगर, विद्युत परियोजनाएँ और आधुनिक अवसंरचना विकास के प्रतीक माने जाते हैं। किंतु विकास की इस चमकदार तस्वीर के पीछे एक दूसरा यथार्थ भी मौजूद है—भूमि से बेदखली, जंगलों का विनाश, नदियों का प्रदूषण, कृषि-भूमि का क्षरण, आदिवासी और ग्रामीण समुदायों का विस्थापन तथा प्राकृतिक संसाधनों पर स्थानीय समुदायों के अधिकारों का कमजोर होना।



इसीलिए आज विकास की अवधारणा को केवल आर्थिक प्रगति के संदर्भ में देखना पर्याप्त नहीं है। प्रश्न यह भी है कि विकास का लाभ किसे मिलता है और उसकी सामाजिक तथा पर्यावरणीय कीमत कौन चुकाता है। आधुनिक पर्यावरणीय न्याय का विमर्श इसी असमानता को सामने लाता है। रॉब निक्सन (Rob Nixon) ने 'slow violence' की अवधारणा के माध्यम से यह बताया कि पर्यावरणीय विनाश अक्सर अचानक दिखाई देने वाली हिंसा नहीं होता, बल्कि धीरे-धीरे घटित होने वाली ऐसी प्रक्रिया होती है जिसका प्रभाव गरीब और हाशिए के समुदायों पर अधिक पड़ता है [1]।

हिंदी साहित्य में प्रकृति केवल सौंदर्य का विषय नहीं रही है। गाँव, जंगल, नदी, खेत, पहाड़, मिट्टी और मौसम साहित्यिक संसार के अभिन्न अंग रहे हैं। किंतु समकालीन संदर्भ में प्रकृति का साहित्यिक अर्थ बदल रहा है। अब जंगल केवल हरियाली नहीं है; वह आदिवासी जीवन, संस्कृति और अस्तित्व का आधार है। नदी केवल प्राकृतिक दृश्य नहीं है; वह विस्थापन, बाँध, प्रदूषण और जीवन के अधिकार का प्रश्न भी है। भूमि केवल संपत्ति नहीं है; वह स्मृति, पहचान और सामाजिक अस्तित्व से जुड़ी हुई है।

जॉय जॉय (Joya John) ने आधुनिक और समकालीन हिंदी साहित्य के पर्यावरणीय पुनर्पाठ में यह रेखांकित किया है कि पर्यावरण हिंदी साहित्य के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण किंतु लंबे समय तक उपेक्षित आयाम रहा है [2]। इसी आधार पर हिंदी साहित्य को पारिस्थितिक दृष्टि से पढ़ने पर विकास, विस्थापन और पर्यावरणीय न्याय के अनेक नए अर्थ सामने आते हैं।

पारिस्थितिक आलोचना और हिंदी साहित्य

साहित्य और पर्यावरण के संबंध का व्यवस्थित अध्ययन पारिस्थितिक आलोचना (Ecocriticism) के अंतर्गत किया जाता है। चेरिल ग्लोटफेल्टी (Cheryll Glotfelty) ने पारिस्थितिक आलोचना को साहित्य और भौतिक पर्यावरण के संबंधों के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया [3]। इस दृष्टि का मूल प्रश्न यह है कि साहित्य प्रकृति को किस प्रकार प्रस्तुत करता है और मनुष्य तथा गैर-मानवीय संसार के बीच किस प्रकार के संबंधों की कल्पना करता है।

लॉरेंस बुएल (Lawrence Buell) ने साहित्यिक कृतियों में पर्यावरण की उपस्थिति को केवल पृष्ठभूमि के रूप में देखने के बजाय उसे रचना के नैतिक और सौंदर्यात्मक ढाँचे का महत्वपूर्ण हिस्सा माना [4]। इस दृष्टि से साहित्य का अध्ययन केवल मनुष्य-मनुष्य के संबंधों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के संबंधों को भी आलोचना का विषय बनाता है।

हिंदी साहित्य का पारिस्थितिक पुनर्पाठ इसी व्यापक दृष्टिकोण का हिस्सा है। विशेष रूप से ग्रामीण, आदिवासी और श्रमिक जीवन पर केंद्रित साहित्य में मनुष्य और प्रकृति के बीच गहरे संबंध दिखाई देते हैं। आधुनिक विकास-परियोजनाओं के विस्तार के साथ इन

संबंधों में जो संकट उत्पन्न हुआ है, वह समकालीन साहित्य में नई संवेदनाओं को जन्म देता है।

विकास की अवधारणा और उसका दूसरा पक्ष

विकास सामान्यतः आर्थिक वृद्धि, औद्योगिकीकरण और आधुनिक सुविधाओं के विस्तार से जुड़ा हुआ है। लेकिन विकास की यह परिभाषा तब अधूरी हो जाती है जब उसमें सामाजिक न्याय और पर्यावरणीय स्थिरता को शामिल नहीं किया जाता।

बड़े बाँध, खनन परियोजनाएँ, औद्योगिक क्षेत्र और शहरी विस्तार कई बार स्थानीय समुदायों की भूमि और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भरता को समाप्त कर देते हैं। परिणामस्वरूप जिन समुदायों को विकास का लाभ मिलना चाहिए, वे स्वयं विकास की प्रक्रिया में विस्थापित हो जाते हैं।

अरुंधति रॉय (Arundhati Roy) ने बड़े बाँधों और विकास की राजनीति पर अपने लेखन में यह प्रश्न उठाया है कि राष्ट्र के विकास की कीमत किसे चुकानी पड़ती है [5]। उनके विचार में बड़े विकास-प्रकल्पों के लाभ और नुकसान समान रूप से वितरित नहीं होते। इस असमानता को समझे बिना विकास की नैतिकता को समझना संभव नहीं है।

यही प्रश्न हिंदी साहित्य के पारिस्थितिक पुनर्पाठ का केंद्रीय प्रश्न बन सकता है—क्या विकास मनुष्य और प्रकृति दोनों के लिए है, या वह केवल पूँजी और सत्ता की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली प्रक्रिया बन गया है?

विस्थापन: विकास की मानवीय कीमत

विस्थापन विकास की सबसे गंभीर मानवीय परिणतियों में से एक है। जब किसी बाँध, खदान, उद्योग, सड़क या संरक्षित क्षेत्र के निर्माण के लिए लोगों को उनकी भूमि से हटाया जाता है, तो केवल उनका घर नहीं छूटता। उनके साथ उनका सामाजिक संसार, सांस्कृतिक स्मृति, स्थानीय ज्ञान, आजीविका और समुदाय भी टूटता है।

विस्थापन इसलिए केवल भौगोलिक स्थानांतरण नहीं है; यह पहचान और स्मृति का विस्थापन भी है।

विशेष रूप से आदिवासी समुदायों के लिए जंगल और भूमि जीवन के आधार हैं। जंगल से उनका संबंध आर्थिक होने के साथ-साथ सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भी है। इसलिए जंगल से विस्थापन उनके जीवन की संपूर्ण संरचना को प्रभावित करता है।

विकास-प्रेरित विस्थापन पर हाल के अध्ययनों ने भी यह रेखांकित किया है कि भारत में संसाधन-समृद्ध क्षेत्रों में रहने वाली आदिवासी आबादी विकास-परियोजनाओं के कारण लंबे समय से विस्थापन और वंचना का सामना करती रही है [6]।

आदिवासी साहित्य और पर्यावरण

आदिवासी साहित्य पर्यावरणीय न्याय के विमर्श को एक महत्वपूर्ण वैकल्पिक दृष्टि प्रदान करता है। मुख्यधारा के विकास मॉडल में जंगल को अक्सर प्राकृतिक संसाधन के रूप में देखा जाता है, जबकि आदिवासी जीवन में जंगल भोजन, औषधि, संस्कृति, इतिहास और पहचान का स्रोत है।

इसलिए आदिवासी साहित्य में प्रकृति को 'बाहरी' वस्तु के रूप में देखने के बजाय उसे जीवन के हिस्से के रूप में देखा जाता है। जंगल के विनाश का अर्थ केवल पेड़ों का कटना नहीं है; इसका अर्थ जीवन-पद्धति का विनाश भी है।

झारखंड के आदिवासी हिंदी लेखन पर किए गए एक हालिया अध्ययन में भी यह दिखाया गया है कि आदिवासी कथाकार पर्यावरणीय शोषण को जातीय और वर्गीय अधीनता से जोड़ते हैं तथा स्थानीय पर्यावरणीय चिंताओं को व्यापक वैश्विक पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में रखते हैं [7]।

यहाँ पर्यावरणीय प्रश्न सामाजिक न्याय का प्रश्न बन जाता है।

फणीश्वरनाथ रेणु और ग्रामीण पर्यावरण

फणीश्वरनाथ रेणु के साहित्य को हिंदी के पारिस्थितिक पुनर्पाठ के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। रेणु का आंचलिक साहित्य ग्रामीण समाज, स्थानीय भूगोल, कृषि, मौसम, नदियों, पशु-पक्षियों और मनुष्य के पारस्परिक संबंधों से निर्मित होता है।

उनका उपन्यास 'मैला आँचल' ग्रामीण जीवन की जटिल सामाजिक संरचना के साथ-साथ उसके प्राकृतिक परिवेश को भी साहित्यिक संसार का हिस्सा बनाता है। प्रकृति यहाँ केवल दृश्य-सज्जा नहीं है; वह ग्रामीण जीवन की गति और अनुभव का हिस्सा है।

इसी प्रकार 'परती परिकथा' को पारिस्थितिक दृष्टि से पढ़ने पर भूमि, कृषि और विकास के प्रश्न नए अर्थ ग्रहण करते हैं। रेणु के साहित्य पर किए गए एक अध्ययन में 'परती परिकथा' को पर्यावरण और विकास के परस्पर विरोध के बजाय उनके संबंधों के संदर्भ में पढ़ा गया है; वहाँ स्थानीय समुदाय की भागीदारी को विकास की सफलता के लिए महत्वपूर्ण माना गया है [8]।

इस प्रकार रेणु का साहित्य यह संकेत देता है कि विकास यदि स्थानीय समाज और उसकी पारिस्थितिकी से कट जाए, तो वह मानवीय विकास नहीं रह जाता।

नदी: प्रकृति, स्मृति और विस्थापन

भारतीय साहित्य में नदी जीवन और संस्कृति का महत्वपूर्ण प्रतीक रही है। नदी खेतों को सिंचती है, गाँवों को जोड़ती है और अनेक समुदायों की आजीविका का आधार बनती है। लेकिन आधुनिक विकास-व्यवस्था में वही नदी बाँध, जलविद्युत परियोजना, सिंचाई और औद्योगिक उपयोग के लिए संसाधन में बदल जाती है।

इस परिवर्तन के साथ नदी का अर्थ भी बदलता है। वह जीवनदायिनी प्रकृति से विकास-परियोजना का हिस्सा बन जाती है।

समकालीन साहित्य में नदी इसलिए पर्यावरणीय न्याय का महत्वपूर्ण रूपक बन सकती है। नदी के किनारे रहने वाले लोगों के लिए नदी केवल पानी नहीं, बल्कि जीवन और स्मृति है। जब नदी का प्रवाह बदलता है या उसके आसपास की भूमि डूब क्षेत्र में चली जाती है, तो उसके साथ मनुष्य की स्मृतियाँ और सामाजिक संबंध भी प्रभावित होते हैं।

इस संदर्भ में अमिताव घोष का 'The Hungry Tide' भारतीय पर्यावरणीय साहित्य का महत्वपूर्ण उदाहरण है, जहाँ सुंदरबन का पारिस्थितिक संसार मनुष्य, पशु, जल और विस्थापन के जटिल संबंधों को सामने लाता है। सुंदरबन और मारिचझापी के संदर्भ पर किए गए अध्ययनों ने पर्यावरणीय संसाधनों, जाति और विस्थापित समुदायों के बीच संबंधों को भी रेखांकित किया है [9]।

जंगल और आदिवासी अस्मिता

जंगल का प्रश्न हिंदी साहित्य में आदिवासी अस्मिता से गहराई से जुड़ा हुआ है। आदिवासी समुदायों के लिए जंगल केवल आर्थिक संसाधन नहीं बल्कि सामुदायिक स्मृति और सांस्कृतिक पहचान का आधार है।

खनन और औद्योगिकीकरण के विस्तार के साथ जंगलों पर बढ़ता दबाव आदिवासी जीवन के सामने अस्तित्व का प्रश्न खड़ा करता है। भूमि-अधिग्रहण के साथ केवल भूगोल नहीं बदलता, बल्कि समुदायों की जीवन-व्यवस्था भी टूटती है।

इसलिए आदिवासी साहित्य का पर्यावरणीय पुनर्पाठ हमें यह समझने में सहायता करता है कि 'प्रकृति की रक्षा' और 'मानव अधिकारों की रक्षा' अलग-अलग प्रश्न नहीं हैं। कई बार वही समुदाय जो पर्यावरणीय रूप से सबसे अधिक संवेदनशील क्षेत्र में रहते हैं, प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा के सबसे महत्वपूर्ण संरक्षक भी होते हैं।

पर्यावरणीय न्याय का प्रश्न

पर्यावरणीय न्याय का मूल प्रश्न पर्यावरणीय संसाधनों और पर्यावरणीय जोखिमों के समान वितरण से जुड़ा है। यदि किसी उद्योग से लाभ एक वर्ग को मिलता है और प्रदूषण का भार दूसरे वर्ग को उठाना पड़ता है, तो यह पर्यावरणीय अन्याय है।

रॉबर्ट बुलार्ड (Robert Bullard) ने पर्यावरणीय न्याय के अध्ययन में यह दिखाया कि पर्यावरणीय जोखिम अक्सर सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर समुदायों पर असमान रूप से पड़ते हैं [10]।

भारतीय संदर्भ में यह प्रश्न जाति, वर्ग और आदिवासी स्थिति से जुड़ जाता है। जिन समुदायों के पास राजनीतिक और आर्थिक शक्ति कम है, उनके लिए भूमि, जंगल और जल पर नियंत्रण बनाए रखना कठिन हो सकता है।

हिंदी साहित्य इन असमानताओं को आँकड़ों की भाषा में नहीं, बल्कि अनुभव की भाषा में सामने लाता है। साहित्य हमें यह देखने देता है कि विस्थापन के बाद एक परिवार का जीवन कैसे बदलता है, जंगल के समाप्त होने पर किसी समुदाय की संस्कृति कैसे प्रभावित होती है और नदी के प्रदूषित होने पर स्थानीय जीवन किस प्रकार बदलता है।

'धीमी हिंसा' और साहित्य

निक्सन की 'Slow Violence' की अवधारणा पर्यावरणीय साहित्य को समझने के लिए विशेष रूप से उपयोगी है [1]। पर्यावरणीय विनाश अक्सर विस्फोट या युद्ध जैसी अचानक घटना नहीं होता। प्रदूषण, भूमि का क्षरण, जंगलों की कटाई, जलस्रोतों का विषाक्त होना और जलवायु परिवर्तन धीरे-धीरे प्रभाव डालते हैं।

समस्या यह है कि ऐसी हिंसा दृश्य नहीं होती। जब कोई जंगल एक दिन में नहीं बल्कि वर्षों में समाप्त होता है, तब उसके विनाश को समाचार की तरह देखना कठिन होता है। साहित्य इस अदृश्य और धीमी हिंसा को दृश्य बना सकता है।

कहानी, उपन्यास, कविता और आत्मकथा मनुष्य के अनुभवों के माध्यम से पर्यावरणीय संकट को संवेदनात्मक रूप देती हैं। यही साहित्य की विशेष शक्ति है।

स्त्री और पर्यावरण

पर्यावरणीय संकट का प्रभाव स्त्रियों पर भी असमान रूप से पड़ता है। ग्रामीण और आदिवासी समाजों में जल, ईंधन, भोजन और घरेलू संसाधनों की व्यवस्था में स्त्रियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इसलिए जलस्रोतों, जंगलों और कृषि-व्यवस्था में परिवर्तन का प्रभाव उनके श्रम और जीवन पर सीधे पड़ सकता है।

वंदना शिवा (Vandana Shiva) ने स्त्री, पारिस्थितिकी और विकास के संबंधों पर विचार करते हुए यह बताया कि पर्यावरणीय संकट और स्त्री के श्रम तथा जीवन के बीच गहरा संबंध है [11]।

भारत के चिपको आंदोलन ने भी पर्यावरण और स्त्री-जीवन के इस संबंध को व्यापक रूप से सामने रखा। जंगलों की रक्षा के लिए ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी ने यह स्पष्ट किया कि पर्यावरण संरक्षण केवल वैज्ञानिक या प्रशासनिक प्रश्न नहीं है; यह स्थानीय जीवन और आजीविका का प्रश्न भी है।

भूमि: संपत्ति से आगे

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में भूमि को संपत्ति के रूप में देखा जाता है। लेकिन साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भूमि का अर्थ इससे कहीं व्यापक है।

भूमि परिवार की स्मृति है, पूर्वजों की विरासत है, समुदाय की पहचान है और भविष्य की सुरक्षा भी है। इसलिए भूमि से बेदखली व्यक्ति को केवल आर्थिक रूप से नहीं बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी असुरक्षित करती है।

आदिवासी और ग्रामीण साहित्य में भूमि का प्रश्न इसी कारण अत्यंत महत्वपूर्ण है। भूमि छिनने का अर्थ अक्सर जीवन-पद्धति के छिनने के बराबर होता है।

इस दृष्टि से भूमि-अधिग्रहण की साहित्यिक अभिव्यक्तियों को पढ़ते समय हमें केवल आर्थिक क्षति नहीं, बल्कि स्मृति और पहचान के संकट को भी देखना चाहिए।

पर्यावरण और वर्गीय असमानता

पर्यावरणीय संकट वर्गीय असमानता से भी जुड़ा है। संसाधनों का अधिक उपभोग करने वाले और पर्यावरणीय जोखिमों को अधिक झेलने वाले समुदाय हमेशा एक ही नहीं होते।

शहरी मध्यवर्ग के लिए प्रदूषण एक स्वास्थ्य या जीवन-गुणवत्ता का प्रश्न हो सकता है, जबकि गरीब समुदाय के लिए वही प्रदूषण रोजगार, आवास और अस्तित्व का प्रश्न बन सकता है।

साहित्य इस वर्गीय अंतर को मानवीय चेहरों के माध्यम से सामने लाता है। झुग्गी बस्तियाँ, औद्योगिक क्षेत्रों के आसपास रहने वाले मजदूर, खनन क्षेत्रों के विस्थापित परिवार और जंगलों पर निर्भर समुदाय पर्यावरणीय संकट के अलग-अलग रूपों को जीते हैं।

इसलिए पर्यावरणीय साहित्य को केवल 'प्रकृति साहित्य' मानना उसकी सामाजिक शक्ति को सीमित करना होगा।

पर्यावरण और जाति

भारत में पर्यावरणीय न्याय को जाति के प्रश्न से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जलस्रोतों तक पहुँच, भूमि का स्वामित्व, श्रम का विभाजन और आवासीय संरचनाएँ ऐतिहासिक रूप से जातिगत संबंधों से प्रभावित रही हैं।

प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' को इसी दृष्टि से पढ़ना उपयोगी है। गंगी का पानी पाने का संघर्ष केवल एक गरीब स्त्री की समस्या नहीं है। उसमें जाति, वर्ग, स्त्री और संसाधनों पर सामाजिक नियंत्रण के अनेक स्तर एक साथ दिखाई देते हैं।

इस प्रकार हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय न्याय का विमर्श दलित विमर्श से भी जुड़ सकता है। पानी, भूमि और स्वच्छ पर्यावरण तक समान पहुँच सामाजिक न्याय का हिस्सा है।

प्रकृति बनाम विकास: क्या वास्तव में विरोध है?

पर्यावरणीय विमर्श में अक्सर विकास और प्रकृति को एक-दूसरे के विरोधी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन यह विरोध हमेशा आवश्यक नहीं है।

समस्या विकास में नहीं, बल्कि ऐसे विकास मॉडल में है जो स्थानीय पारिस्थितिकी, समुदायों और भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करता है।

फणीश्वरनाथ रेणु की 'परती परिकथा' का पारिस्थितिक पुनर्पाठ यह संकेत देता है कि विकास और पर्यावरण के बीच संबंध को अधिक जटिल ढंग से समझने की आवश्यकता है [8]। यदि विकास स्थानीय ज्ञान, समुदाय की भागीदारी और पर्यावरणीय संतुलन पर आधारित हो, तो विकास प्रकृति का विनाश किए बिना भी संभव हो सकता है।

इसलिए साहित्य का प्रश्न 'विकास चाहिए या प्रकृति?' नहीं बल्कि यह होना चाहिए—कैसा विकास और किसके लिए विकास?

साहित्य में पर्यावरणीय स्मृति

पर्यावरणीय संकट केवल वर्तमान को प्रभावित नहीं करता; वह सामूहिक स्मृति को भी बदलता है। जब कोई जंगल समाप्त होता है, नदी सूखती है या गाँव किसी बाँध के जलाशय में डूब जाता है, तब उस स्थान की स्मृतियाँ भी संकट में पड़ती हैं।

साहित्य इन स्मृतियों को सुरक्षित रख सकता है। कविता, कहानी, उपन्यास और आत्मकथा पर्यावरणीय परिवर्तन का वैकल्पिक अभिलेख बन सकते हैं।

इस अर्थ में साहित्य एक प्रकार का पर्यावरणीय अभिलेखागार भी है। वह उन आवाजों और स्थानों को संरक्षित कर सकता है जिन्हें आधिकारिक विकास-इतिहास अक्सर पीछे छोड़ देता है।

समकालीन हिंदी साहित्य और पारिस्थितिक चेतना

समकालीन हिंदी साहित्य में पर्यावरण अब केवल प्रकृति-वर्णन का विषय नहीं रह गया है। जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण, जंगलों का विनाश, भूमि-अधिग्रहण, विस्थापन और आदिवासी अधिकार जैसे प्रश्न साहित्यिक संवेदना का हिस्सा बन रहे हैं।

इक्कीसवीं सदी के हिंदी साहित्य में पारिस्थितिक विमर्श पर किए गए हालिया अध्ययन भी इस परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं कि पर्यावरणीय प्रश्न अब सामाजिक न्याय, स्थायित्व और प्रतिरोध के साथ अधिक स्पष्ट रूप से जुड़े दिखाई देते हैं [12]।

इस परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि साहित्य अब प्रकृति को केवल 'सुंदर' नहीं देखता। वह प्रकृति के राजनीतिक और आर्थिक अर्थों को भी पहचानता है।

जलवायु परिवर्तन और विस्थापन

जलवायु परिवर्तन ने विस्थापन के प्रश्न को और अधिक जटिल बना दिया है। बाढ़, सूखा, समुद्र-स्तर में वृद्धि, अत्यधिक गर्मी और कृषि संकट लोगों को अपने पारंपरिक निवास-क्षेत्रों से दूर जाने के लिए मजबूर कर सकते हैं।

भविष्य में पर्यावरणीय विस्थापन केवल विकास-परियोजनाओं का परिणाम नहीं रहेगा; वह जलवायु परिवर्तन का भी परिणाम हो सकता है। साहित्य इस संभावित भविष्य की कल्पना करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

यहाँ पर्यावरणीय न्याय का प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है—जिन लोगों का वैश्विक पर्यावरणीय संकट में योगदान अपेक्षाकृत कम रहा है, क्या उन्हें उसके सबसे गंभीर परिणामों का भार उठाना चाहिए?

समकालीन साहित्य इस प्रश्न को नैतिक और मानवीय स्तर पर सामने ला सकता है।

पारिस्थितिक पुनर्पाठ की आवश्यकता

हिंदी साहित्य के पारिस्थितिक पुनर्पाठ का अर्थ केवल उन रचनाओं की सूची बनाना नहीं है जिनमें पेड़, नदी, जंगल या पहाड़ दिखाई देते हैं। इसका अर्थ साहित्य के भीतर मनुष्य और प्रकृति के संबंधों को नए सिरे से समझना है।

इस पुनर्पाठ में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं—

- प्रकृति पर अधिकार किसका है?
- विकास का लाभ किसे मिलता है?

- विस्थापन का भार कौन उठाता है?
- जंगल और भूमि को कौन परिभाषित करता है?
- स्थानीय समुदायों के पर्यावरणीय ज्ञान का मूल्य क्या है?
- पर्यावरणीय विनाश का प्रभाव सामाजिक रूप से समान क्यों नहीं होता?
- साहित्य में प्रकृति की आवाज किस प्रकार व्यक्त होती है?
- क्या पर्यावरणीय न्याय के बिना सामाजिक न्याय संभव है?

इन प्रश्नों के कारण पारिस्थितिक आलोचना साहित्य को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विमर्शों से जोड़ती है।

साहित्य, प्रतिरोध और पर्यावरणीय न्याय

साहित्य केवल पर्यावरणीय संकट का दस्तावेज नहीं है। वह प्रतिरोध की भाषा भी बन सकता है।

आदिवासी साहित्य जंगल और भूमि के अधिकार की आवाज बनता है। दलित साहित्य संसाधनों पर असमान नियंत्रण के प्रश्न उठाता है। स्त्री लेखन जल, श्रम और पर्यावरणीय संकट के लैंगिक प्रभावों को सामने ला सकता है। ग्रामीण साहित्य भूमि और कृषि के संकट को अभिव्यक्ति देता है।

इस प्रकार पर्यावरणीय साहित्य एक व्यापक लोकतांत्रिक विमर्श का निर्माण करता है जिसमें मनुष्य और प्रकृति के साथ-साथ हाशिए के समुदायों की आवाज भी शामिल होती है।

निष्कर्ष

विकास, विस्थापन और पर्यावरणीय न्याय के प्रश्नों को अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता। आधुनिक विकास मॉडल ने जहाँ एक ओर जीवन को सुविधाजनक बनाया है, वहीं दूसरी ओर अनेक समुदायों को भूमि, जंगल, जल और आजीविका से दूर भी किया है। पर्यावरणीय संकट इसलिए केवल प्रकृति का संकट नहीं है; वह सामाजिक न्याय का संकट भी है।

हिंदी साहित्य इस संकट को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण संवेदनात्मक और आलोचनात्मक माध्यम प्रदान करता है। फणीश्वरनाथ रेणु के ग्रामीण संसार से लेकर दलित और आदिवासी साहित्य तक, भूमि, जंगल, जल और मनुष्य के संबंध अनेक स्तरों पर

अभिव्यक्त होते हैं। समकालीन साहित्य में यह संबंध विकास, विस्थापन और असमानता के प्रश्नों से और अधिक गहराई से जुड़ रहा है।

पारिस्थितिक आलोचना हमें साहित्य को केवल मनुष्य-केंद्रित दृष्टि से देखने के बजाय मनुष्य और गैर-मानवीय संसार के पारस्परिक संबंधों के रूप में देखने की दिशा देती है। ग्लोटेल्टी, बुएल और निक्सन जैसे चिंतकों ने पर्यावरणीय आलोचना को वैचारिक आधार प्रदान किया, जबकि भारतीय संदर्भ में वंदना शिवा, अरुंधति रॉय और रामचंद्र गुहा जैसे विचारकों ने पर्यावरण, विकास और सामाजिक न्याय के संबंधों पर महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए [1,4,5,11,13]।

हिंदी साहित्य का पारिस्थितिक पुनर्पाठ इस अर्थ में केवल एक नई आलोचनात्मक पद्धति नहीं है; यह साहित्य के सामाजिक अर्थों को विस्तृत करने की प्रक्रिया है। इससे यह समझ विकसित होती है कि नदी का सूखना केवल नदी का सूखना नहीं है, जंगल का कटना केवल पेड़ों का कटना नहीं है और भूमि का अधिग्रहण केवल जमीन का हस्तांतरण नहीं है। इनके भीतर मनुष्य की स्मृति, संस्कृति, पहचान और भविष्य भी प्रभावित होते हैं।

अतः वास्तविक विकास वही होगा जो प्रकृति और मनुष्य के बीच संबंध को नष्ट करने के बजाय उसे अधिक न्यायपूर्ण बनाए। साहित्य इस न्याय की कल्पना को संवेदना, स्मृति और प्रतिरोध के माध्यम से जीवित रख सकता है। यही कारण है कि समकालीन हिंदी साहित्य का पारिस्थितिक पुनर्पाठ आज के समय में न केवल प्रासंगिक बल्कि आवश्यक भी है।

संदर्भ

1. Nixon R. Slow violence and the environmentalism of the poor. Cambridge (MA): Harvard University Press; 2011.
2. John J. Nature displaced: postcolonial Hindi literature and the environment [dissertation]. Chicago: University of Chicago; 2020.
3. Glotfelty C. Introduction: literary studies in an age of environmental crisis. In: Glotfelty C, Fromm H, editors. The ecocriticism reader: landmarks in literary ecology. Athens (GA): University of Georgia Press; 1996. p. xv-xxxvii.
4. Buell L. The environmental imagination: Thoreau, nature writing, and the formation of American culture. Cambridge (MA): Harvard University Press; 1995.
5. Roy A. The greater common good. New Delhi: India Book Distributors; 1999.

6. Development-induced dispossession: Adivasi existence in the milieu of contemporary Indian texts in translation. Humanities and Social Sciences Communications. 2024. doi:10.1057/s41599-024-03166-3.
7. Eco-local and eco-global: some literary interventions in Adivasi Hindi short stories. South Asia: Journal of South Asian Studies. 2025. doi:10.1080/00856401.2025.2600225.
8. Gyawali A. Discovering eco-criticism in Hindi: Renu's tale of a barren land. SOAS Mulosige. 2017.
9. Marginalization of Sundarbans' Marichjhapi: ecocriticism approaches in Amitav Ghosh's The Hungry Tide and Deep Halder's Blood Island. Literature. 2022;2(3):14.
10. Bullard RD. Dumping in Dixie: race, class, and environmental quality. 3rd ed. Boulder (CO): Westview Press; 2000.
11. Shiva V. Staying alive: women, ecology and development. London: Zed Books; 1988.
12. Priyadarshini P. Ecological discourse in 21st century Hindi literature: an interdisciplinary dialogue for resilience and sustainability. International Journal of Advanced Research. 2026. doi:10.21474/IJAR01/22811.
13. Guha R, Martinez-Alier J. Varieties of environmentalism: essays north and south. London: Earthscan; 1997.



Dr. A. V. Nandaniya
Associate Professor,
Shri V. M. Mehta Muni. Arts & Commerce College, Jamnagar.